यह लेख राजनीति विज्ञान (?) की पाठ्यपुस्तकों की बहस को ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर देखता है। लेख बताता है कि औपनिवेशिक काल में तमाम हित समूह इस बहस को प्रभावित करने में जुटे थे। लेख एनसीएफ 2005 और इससे पहले इस विषय के विमर्श में आए बदलावों पर रौशनी डालता है।

औपनिवेशिक और स्वतंत्र भारत में पाठ्यपुस्तकें

विवाद, सरोकार और सबक

मनीष जैन

आजाद भारत में पाठ्यपुस्तकों पर हुए विवाद मुख्यतः इतिहास और भाषा पर केन्द्रित रहे हैं। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) 2005 के अनुरूप बनी राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों पर हुई हालिया बहसें, स्वतंत्र भारत में राजनीति, राज्य और नागरिकता पर केंद्रित पाठ्यपुस्तकों पर हुए विवाद और बहसों का पहला उदाहरण हैं। एनसीएफ 2005 और इन पाठ्यपुस्तकों ने नागरिक शास्त्र की जगह 'सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन' तथा 'राजनीति विज्ञान' को विद्यालयी विषयों के रूप में शामिल किया था।

यह आलेख औपनिवेशिक और स्वतंत्र भारत में स्कूली पाठ्यपुस्तकों, सामाजिक विज्ञान और नागरिक शास्त्र संबंधी सरोकारों, बहसों और विमर्श का एक सिंहावलोकन प्रस्तुत करता है। यह आलेख इन नए विषयों द्वारा लाए गए निदर्शनात्मक (paradigmatic), अनुशासनात्मक एवं शिक्षाशास्त्रीय बदलावों को ऐतिहासिक रूप से समझने की भी कोशिश करता है। अंत में यह लेख पाठ्यपुस्तकों पर समसामयिक बहस के संदर्भ में, इस ऐतिहासिक विश्लेषण से उभरे कुछ सरोकारों और सबकों की ओर इशारा करता है।

परिचय

'19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नागरिक शास्त्र की पाठ्यचर्या और नागरिक का विचार' पर शोध प्रबंध, 10 वर्ष तक शिक्षण कार्य, एससीईआरटी, दिल्ली के साथ कक्षा 6-8 पाठ्यपुस्तक निर्माण में भागीदारी। आजकल अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली में अध्यापन कर रहे हैं।

औपनिवेशिक पाठ्यपुस्तकें, लोकतंत्र और (अन) सुधरा 'देशज'

औपनिवेशिक शिक्षायी नीतियों ने भारतीय स्कूली कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकों को एक जबरदस्त और केन्द्रीय उपस्थिति दी और 'पाठ्यपुस्तक संस्कृति' की विरासत रची। लेकिन पाठ्यपुस्तकों की इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपस्थिति के बावजूद, औपनिवेशिक

भारत में पाठ्यपुस्तकों पर हुई बहसों और विवादों पर बेहद कम शोध हुए हैं। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से पाठ्यपुस्तकें भारत में उभरते हुए, सीमित लोकवृत्त में महत्त्वपूर्ण ध्यान खींच रही थीं।

पाठ्यपुस्तक नीतियों के प्रस्ताव और अमल, लेख, याचिकाएं और अखबारी रपटें दिखाती हैं कि औपनिवेशिक अधिकारी, मिशनरी, धार्मिक समुदायों के प्रतिनिधि एक समरूपी समूह नहीं थे। हर समूह में अनेक आवाजें थीं और समय के साथ उनके दृष्टिकोण में बदलाव हुआ। इन समूहों के बीच यह अंतर शिक्षा के उद्देश्यों तथा भूमिका; शिक्षा का इस्तेमाल धार्मिक विश्वासों और पहचान को पुख्ता करने या उन पर प्रश्न उठाने; सरकारी स्कूलों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रारंभ करने; तथा आक्रामक धार्मिक कार्यक्रम को बढ़ाने या रोकने में राज्य की भूमिका से जुड़े थे। क्या शिक्षा मर्दानगी के औपनिवेशिक आदर्श प्रस्तुत करे और अंग्रेजी व्यवहारों और इतिहास की नकल को बढ़ावा दे, इन प्रश्नों का कोई साझा जवाब नहीं था। भारत के विभिन्न धार्मिक समुदायों ने इस बात पर नजर रखी कि पाठ्यपुस्तकें किस तरह उनके धार्मिक विश्वासों और इतिहास को प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने आपत्तिजनक अनुच्छेदों, शब्दों और विमर्श को सुधारने के लिए याचिकाएं दीं। अखबारों में पाठ्यपुस्तक समितियों की सदस्यता और इन सदस्यों द्वारा स्व-लिखित पाठ्यपुस्तकों के चयन और बढ़ावा देने के खिलाफ शिकायतें छपीं। पाठ्यपुस्तकों को बार-बार बदलने, उनकी ऊंची कीमत, विषय-वस्तु और भाषा; शिकायतों के अन्य मुद्दे थे। अखबारों ने सुझाया कि सरकार निजी प्रकाशकों द्वारा अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले बेईमान और अनैतिक तरीकों पर लगाम लगाए और उनसे पाठ्यपुस्तकों के दीर्घकालीन प्रकाशनाधिकार स्वयं ले (जैन, 2012)।

अध्यापक, शिक्षाविद् और औपनिवेशिक अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए रटंत और कुंजियों के अनियंत्रित इस्तेमाल पर लगातार चिंतित थे। वे इस बात से बेहद परेशान और हतोत्साहित थे कि 'देशज' विद्यार्थी पश्चिमी शिक्षा को भौतिक उद्देश्यों के लिए एक यंत्र की तरह इस्तेमाल कर रहे थे। और उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों को बनाए रखा (बैलेनोइट, 2007; सेठ, 2007)। इस तरह 'देशज' विद्यार्थियों को 'सुधारने' और 'बदलने' के उनके प्रयास असफल हो रहे थे। औपनिवेशिक शिक्षा ने देशज ज्ञान और परंपराओं को त्रुटिपूर्ण मानकर उन्हें स्कूली पाठ्यचर्या से बाहर रखा था। लेकिन इस शिक्षाशास्त्रीय बदलाव के एक प्रमुख पात्र यानी विद्यार्थी पाठ्यपुस्तकों को व्यक्तिगत स्तर पर व्याख्यायित कर अपने अर्थ नहीं रच रहे थे। पाठ्यपुस्तकों, लिखित शब्दों और राष्ट्र/राजनीति (body politics), देशज लोगों और समाज को सुधारने में शिक्षाशास्त्र के असर, सीमाओं और जटिलताओं के बारे में चिंताओं ने पाठ्यपुस्तकों में बदलावों के विभिन्न सुझावों को जन्म दिया। इन सुझावों में पाठ्यपुस्तकों को देशज भाषाओं में अनुवादित करने, विद्यार्थियों को समझ में आने वाली भाषा में पाठ्यपुस्तकें लिखने और यूरोपीय बिम्बों और प्रतीकों की जगह उपमहाद्वीपीय प्रतीकों के इस्तेमाल के सुझाव दिए गए ताकि विद्यार्थी पाठ्यपुस्तकों को अपने अनुभवों से जोड़ सकें (एलेण्डर, 2006)।

औपनिवेशिक एजेंडा और विवाद

औपनिवेशिक राज्य के वैधीकरण और औपनिवेशिक विचाराधिपत्य स्थापित करने में पाठ्यपुस्तकों की भूमिका और इस्तेमाल पर प्रश्न उठते रहे हैं। औपनिवेशिक काल की पाठ्यपुस्तकों और पाठ्यपुस्तक-विवादों पर हुए कुछ अध्ययन मानते हैं कि 1860 के दशक की किताबों पर एक विशिष्ट औपनिवेशिक एजेंडा आरोपित करना, पाठ्यपुस्तक बनाने और उनके इस्तेमाल की जटिल प्रक्रियाओं की अनदेखी करता है। यह सुझाया गया है कि औपनिवेशिक पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन यह जांचे-परखे कि क्या पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय किताबें पाठ्यक्रम का हिस्सा थीं; पाठ्यपुस्तक किस परिप्रेक्ष्य से प्रेरित थीं; किस हद तक ये

पाठ्यपुस्तकें 'स्वीकृत ब्रिटिश किताबों' के ढर्रे पर या उनसे अलग थीं; किस तरह लेखक चुने गए और संभावित पाठकों की उनकी समझ ने किताबों को किस तरह प्रभावित किया। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि पाठ्यपुस्तक का क्षेत्रीय संदर्भ क्या था और किन दायरों से किस आधार पर किन शब्दों में इनकी आलोचना हुई (पॉवेल, 2002, 2011)।

पाठ्यपुस्तकों के बनने, इस्तेमाल और पढ़े जाने का वक्त और संदर्भ भी इन पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा और उनके वैचारिक एजेंडा को समझने में मदद देता है। इसके जरिए हम पहचान सकते हैं कि पाठ्यपुस्तक समितियों के संघटन, कार्यों और शक्तियों में बदलाव और उनमें राज्य का बढ़ा/बढ़ता नियंत्रण, सरकारी सदस्यों का आधिपत्य, राज्य की स्थिरता संबंधी राजनीतिक सरोकार और चिंताएं तथा उपनिवेशवाद के चरित्र और अवस्था में बदलाव ने साम्राज्यवादी प्रचार और उसे मजबूत बनाने में पाठ्यपुस्तकों की बढ़ती/घटती वैचारिक भूमिका तय की। औपनिवेशिक पाठ्यपुस्तक के वैचारिक चरित्र का विश्लेषण तब कहीं और समृद्ध हो सकता है, जब हम यह समझें कि औपनिवेशिक सत्ता की राजनीति और विमर्श कई सांस्कृतिक पाठों और जगहों पर बुना जा रहा था और पाठ्यपुस्तकें किस तरह इनके साथ परस्पर साझा तरीके से शामिल थीं। साथ ही पाठ्यपुस्तकों पर वयस्क और युवा पाठकों की प्रतिक्रियाएं यह दिखलाती हैं कि औपनिवेशिक काल में भी किताबें अलग-अलग तरह से पढ़ी और गुनी जा रही थीं और औपनिवेशिक भारतीय उनकी आलोचना कर रहे थे, प्रश्न पूछ रहे थे और बहस कर रहे थे (जैन, 2009)।

औपनिवेशिक भारत की नागरिक शास्त्र की प्रथम पाठ्यपुस्तक विलियम ली-वॉर्नर रचित 'भारत का नागरिक' (1897) को पाठ्यचर्या में शामिल करने, उसकी विषयवस्तु और भाषा पर पैदा हुआ विवाद, हमारे लिए एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण दृष्टव्य है। इस विवाद में औपनिवेशिक अधिकारी, विश्वविद्यालयी संस्थाएं, प्रकाशक, अनुवादक, लेखक, स्कूल इंस्पैक्टर, प्रधानाचार्य एवं अध्यापकों से लेकर वे स्कूली विद्यार्थी तक शामिल थे जिन्होंने यह किताब पढ़ी थी (जैन, 2009, 2011)।

इस किताब की विषयवस्तु के वैचारिक ताने-बाने की लंबी जांच-पड़ताल हम शिक्षा विमर्श के पूर्व अंक (2008, 10(5), 1927) में कर चुके हैं। दोहराव से बचते हुए इतना कहना काफी होगा कि इस किताब में आदर्श नागरिक और राज्य की भूमिका के बारे में इस्तेमाल की गई शब्दावली उदारवाद के सामाजिक दर्शन में पैठी थी। इस पाठ्यपुस्तक ने भारत में राष्ट्रवाद, राष्ट्र-समुदाय और नागरिकता की संवेदना एवं अनुभूति के अभाव पर जोर दिया। देशज लोगों के बरक्स जो अनियंत्रित मनोभावों और आवेशों से नियंत्रित हो राज्य के खिलाफ विद्रोह कर सकते थे, तर्क और औपनिवेशिक राज्य के प्रति वफादारी को आदर्श नागरिक के पहचान चिह्नों के रूप में व्याख्यायित किया गया। इस पाठ्यपुस्तक ने औपनिवेशिक राज्य को 'देशज' समाज में बदलाव और सुधार के औजार के रूप में प्रस्तुत किया (जैन, 2008)।

इस पाठ्यपुस्तक पर की गई आपत्तियों को दो श्रेणियों - शिक्षाशास्त्रीय और राजनीतिक-विचारधारात्मक, में बांटा जा सकता है। और यह दोनों ही पाठ्यपुस्तकों पर विवादों को समझने में शिक्षाप्रद हो सकते हैं। शिक्षाशास्त्रीय सरोकारों में एक सरोकार किताब की मुश्किल भाषा थी जो अंग्रेजी विद्यालयों के विद्यार्थियों के स्तर से भी ऊंची मानी गई। इस पाठ्यपुस्तक की लंबाई और सांख्यिकी के भारी इस्तेमाल की 'पहले से भरे विषयक्रम' को और भारी-भरकम बनाने के लिए आलोचना हुई। यह कहा गया कि लेखक को भारतीय स्कूली लड़कों के सीखने के स्तर का 'नजदीकी ज्ञान' नहीं था और उसने उनके स्तर और सरोकारों से ऊंचे स्तर के प्रश्न उठाएं।

देशज शासन के बरक्स ब्रिटिश राज की श्रेष्ठता पर अधिकाधिक जोर देने के लिए किताब की विषयवस्तु की आलोचना हुई। किताब की 'बेहद अवांछनीय विवादों और प्रत्यारोपों' को जन्म देने की प्रवृत्ति और 'एक

अनैतिक एवं विश्वासघाती अध्यापक' के हाथों में स्कूलों में अनचाही राजनीतिक शिक्षा का औजार पकड़ाने के लिए तीखी आलोचना हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा के विद्यार्थियों ने इस औपनिवेशिक पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु पर 22 आपत्तियां दर्ज कीं। उन्होंने उसके भारतीय समाज के मूल्यांकन पर प्रश्नचिह्न लगाए; देशजों को कमजोर बताने का विरोध किया; औपनिवेशिक नीतियों के बुरे असर की ओर इशारा किया और औपनिवेशिक दावों पर संशय किया (जैन, 2012)।

बंगाल की केन्द्रीय पाठ्यपुस्तक समिति के सदस्यों और कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्ययन मंडल द्वारा ली-वॉर्नर द्वारा लिखी इस पाठ्यपुस्तक को स्कूली पाठ्यक्रम और प्रवेश परीक्षा के लिए अनुशंसित सूची में शामिल करवाने में सरकारी पक्ष नाकाम रहा। इस असफलता ने शिक्षा विभाग और अन्य विभागों के औपनिवेशिक अधिकारियों में बेहद गुस्सा और रंजोगम पैदा किया। उन्होंने पाठ्यपुस्तक समिति में प्रधानता रखने वाले बंगाली वकीलों की हैसियत पर प्रश्न उठाए और पूछा कि किस तरह एक समिति जो केवल सलाहकार का दर्जा रखती थी, उसने अनिवार्य अनुशंसाएं देने की शक्ति पा ली थी (जैन, 2011)।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से स्वतंत्रता पाने तक राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद की राजनीति नागरिक शास्त्र के सांस्कृतिक-राजनीतिक धरातल पर भी खेली गई। उस समय के नागरिक शास्त्र के विमर्श ने जनता को ना-तैयार, अयोग्य और अज्ञानी लोगों के रूप में देखा जिनके पास एक लोकतांत्रिक और औपनिवेशिक राज्य में भागीदारी करने की राजनैतिक क्षमता नहीं थी। साथ ही, इन पाठ्यपुस्तकों में विभिन्न रणनीतियों के जरिए औपनिवेशिक राज्य को चुनौतियां दी गई। इन पाठ्यपुस्तकों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता समकालीन सरोकारों, बहसों और घटनाक्रम को दी गई जगह थी। ये संदर्भ सामाजिक लिंग (gender) और जातीय आधारों पर प्रभुत्व स्थापित करने और तात्कालिक सामाजिक संबंधों से उत्पन्न चुनौतियों का जवाब देने या उन्हें समायोजित करने के लिए इस्तेमाल किए गए (जैन, 2009)। औपनिवेशिक बंगाल में भी भूगोल की पाठ्यपुस्तकों में सभ्यताओं के सोपान-क्रम की औपनिवेशिक श्रेणियों का इस्तेमाल देशज अभिजात्य वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने और उसे वैधता देने के लिए हुआ (बासु, 2010)।

स्वतंत्र भारत में नागरिक शास्त्र और नागरिकता

पश्चिमी देशों में आधुनिकता, औद्योगीकरण, लोकतंत्र और जन शिक्षा के काम एक साथ नहीं किए गए। इसकी तुलना में, भारत में उत्तर-औपनिवेशिक राज्य ने वृहद् जन निरक्षरता, गरीबी और औद्योगीकरण की विरल उपस्थिति के बीच लोकतंत्र के संस्थायीकरण की ऐतिहासिक चुनौती का काम अपने हाथ में लिया (कविराज, 2000)। इस अंतर ने लोकतंत्र के तत्कालीन पश्चिमी सिद्धांतों को चुनौती दी और भारतीय अभिजात्य समूह में भी लोकतंत्र को कायम रखने की संभावनाओं के बारे में चिंताएं पैदा कीं। जब एक बार लोकतंत्र को समर्थन देने वाली आर्थिक स्थितियों को बनाने में राज्य की केंद्रीय भूमिका का मसला तय हो गया, तब लोकतंत्र के इस आयातित लेकिन अपना लिए गए पौधे की देशज मिट्टी में और गहरी जड़ें रोपने का काम शिक्षा के जरिए ही होना था। कम से कम उस समय का शब्दाडंबर तो शिक्षा की यही भूमिका रेखांकित करता था। भारतीय राज्य और अभिजात्य वर्ग ने 'लोकतंत्र में नागरिकता' की 'सख्त और चुनौतीपूर्ण जिम्मेदारी' के लिए (भारत सरकार, 1953 : 25-26) समाज और जनता को प्रशिक्षित करने में स्वयं को एक शैक्षणिक भूमिका दी और फिर उन्होंने अपनी शैक्षणिक भूमिका के निर्वाह की योजना में शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण जगह दी।

हाल में हुए विभाजन के कारण, नया भारतीय राज्य देशीय बहुलता के संदर्भ में राष्ट्र-निर्माण को लेकर चिंतित था। यह चिंताएं और राष्ट्र की एकरूपीय अवधारणा स्वतंत्र भारत के शैक्षिक विमर्श की अनिवार्य चिंता

बनने वाली थीं। इस राष्ट्र का नागरिक एक ऐसा अमूर्त अचिह्नित व्यक्ति रहना था जिसके ऐसे कोई सांस्कृतिक और सामुदायिक चिह्न न हों जो उसकी पहचान का अंदाजा दें। भारत की स्वतंत्रता के प्रथम दशक में इस्तेमाल नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकें भी लोकतंत्र के उदारवादी आधार-वाक्यों और जनता के आगमन से उपजे अभिजात्य डरों से अनुप्रेरित थीं। छपी हुई और 'जनोत्तेजकों' (demagogues) द्वारा लोगों को प्रभावित करने की क्षमता के बारे में अभिजात्य समूह की चिंता निरक्षर जनता, गरीबी, सांप्रदायिक लामबन्दी तथा समसामयिक राजनीतिक आंदोलनों के संदर्भ में लोकतंत्र की भंगुरता संबंधी पूर्व-मान्यताओं के संदर्भ में और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इन किताबों में राजनीतिक नागरिक आधे से अधिक बार ऐसा मतदाता था जो लालच, दबाव और जाति संबंधों के बजाय तर्क के आधार पर निर्णय लेता था और अपने अधिकारों की रक्षा करता था। यह नागरिक इसी तर्कशक्ति का इस्तेमाल विभिन्न मुद्दों पर अपनी स्वतंत्र व्यक्तिगत राय बनाने के लिए करता था (जैन, 1996)।

माध्यमिक शिक्षा आयोग, जिसे आमतौर पर मुदालियर आयोग के नाम से जाना जाता है, की रपट ने नागरिकता को जिम्मेदारी पर जोर देने के साथ तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की कड़ी आलोचना की। उसने लिखा कि शिक्षा व्यवस्था जीवन से 'अलग' थी और विद्यार्थी जिस 'रोजमर्रा की दुनिया में रहते थे', उसके बारे में 'अंतर्दृष्टि' देने में वह असफल थी (भारत सरकार 1953 : 21-23)। माध्यमिक शिक्षा आयोग स्कूल में विषयों की भीड़ का आलोचक था और उसने इतिहास, नागरिक शास्त्र, भूगोल और अर्थशास्त्र के सख्त खांचों को तोड़ उन्हें सामाजिक ज्ञान के तहत ला, सामाजिक वातावरण और इंसानी रिश्तों के अध्ययन की सलाह दी। उसने सुझाया कि सभी स्कूली विषयों के पाठ्यक्रम से 'जड़, अरुचिकर और बेकार विषयवस्तु का भार हटा उसे हल्का बनाएं' और उसमें ऐसी रुचिपूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण सामग्री को शामिल करें' जो विद्यार्थियों को आनंद और अंतर्दृष्टि दे तथा पाठ्यक्रम को 'समृद्ध' करे। माध्यमिक शिक्षा अयोग का मत तथा कि अ/रुचिकर और गैर/महत्त्वपूर्ण को तय करने का पैमाना वैज्ञानिक या इतिहासकार या भूगोलवेत्ता या लेखक की सिफारिश नहीं बल्कि विद्यार्थियों और बुद्धिमान, समझदार अध्यापकों का रवैया होना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने शिक्षा को 'एक आनंददायी अनुभव', 'अपने में भरोसा' विकसित करने और 'स्वतंत्र चिंतन की आदत' को बढ़ावा देने वाली शक्ति बनाने की सिफारिश की (भारत सरकार 1953 : 21-23)।

पाठ्यक्रम को हल्का करने और समृद्ध बनाने की माध्यमिक शिक्षा आयोग की यह सिफारिशें शिक्षा आयोग (शिक्षा आयोग, 1964-66) द्वारा लगभग एक दशक बाद प्रस्तुत रपट के सरोकार और धुन से कहीं अलग थीं। शिक्षा आयोग, जिसे कोठारी आयोग के नाम से जाना जाता है, 'ज्ञान के वृहत् विस्फोट' से निपटने की अत्यावश्यकता से ग्रस्त था (एनसीईआरटी 1970 : 10, अनु. 170)। इस जोर ने बच्चे पर पाठ्यचर्या के बोझ को बढ़ावा दिया और ज्ञान निर्माण में बच्चे के महत्त्व को दरकिनार किया। ज्ञान निर्माण में बच्चे की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर इस जोर को आधिकारिक पाठ्यचर्या में जगह पाने के लिए अब चार दशक लंबा इंतजार करना था।

राष्ट्रीय आधुनिक नागरिक का खांचा और चुप्पियां

आधुनिकीकरण, सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण और राजनीतिक विकास, वे मुख्य खांचे थे, जिन्होंने कोठारी आयोग को अपने समय के प्रमुख सरोकारों को समझने और उन्हें संबोधित करने में शिक्षा की भूमिका सुझाने में मदद की। कोठारी आयोग ने शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने, 'भौतिक और मानवीय संसाधनों के बेहतर इस्तेमाल', अंधविश्वास तथा भाग्यवाद को हटाने और 'स्वतंत्र खोज के प्रति वचनबद्धता' को मजबूत करने के लिए विज्ञान को आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों तरह की भूमिकाएं दीं। कई मायनों में शिक्षा

आयोग का विमर्श (बहिष्करण आधारित) ब्राह्मणवादी पुस्तकों के आधार पर परंपरा के आविष्कार और धर्म के साथ अर्थ संभालने के 19वीं सदी की राष्ट्रवादी कोशिशों और संघर्षों की याद दिलाता है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उपस्थित कई चिंताएं - भारत की विविधता के बारे में बैचेनी, धार्मिक अल्पसंख्यकों का स्थान और आधुनिकता के साथ धर्म को संजोने की चिंता, इस रपट में भी जाहिर होते हैं। बाद में इन खांचों को 'विकास' की सामाजिक आंदोलनों द्वारा उभरती आलोचना और सामाजिक विज्ञान विमर्श में नए निर्देशात्मक बदलावों ने चुनौती दी।

विभिन्न राजनीतिक पार्टियों, शासनों और भारत के अलग-राज्यों में 1960 के दशक से 2005 राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा से पहले तक बनी नागरिक शास्त्र की किताबें, भारतीयों में अच्छे नागरिकों के गुणों की 'कमी' के औपनिवेशिक विमर्श का इस्तेमाल करती रहीं। उन्होंने आशा की कि वे नागरिकों की अज्ञानता को दूर हटा, उन्हें नैतिक रूप से सुधारेंगी और राज्य के प्रति उनके समर्थन और निष्ठा को पक्का करेंगी। इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए, उन्होंने विद्यार्थियों को राज्य की संस्थाओं और सरकार द्वारा नागरिकों की भलाई के लिए उठाए परोपकारी कदमों की जानकारी दी। राजनीति से पाक-साफ इन पाठ्यपुस्तकों में राज्य की संस्थाओं की अमूर्त छवि को प्रस्तुत करने के लिए कानूनी भाषा का इस्तेमाल किया गया। इस रवैये ने विद्यार्थियों को अपने अनुभवों पर, इन संरचनाओं तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं या उनसे अपने रिश्तों के बारे में सोचने-समझने का कोई मौका नहीं दिया (जॉर्ज, 2004; जैन, 2004)। राज्य की संरचनाओं और संस्थाओं पर सवाल उठाने की कोई जगह न होने तथा राज्य और उसकी संस्थाओं के आदर्श रूप की प्रस्तुति के कारण विद्यार्थी इन संरचनाओं के गुणों तथा कमियों के विश्लेषण और उनमें सुधार की संभावनाओं की कल्पना से वंचित कर दिए गए। राज्य की संस्थाओं और समाज में उपजते और बढ़ते संकट की ओर कोई इशारा न कर एनसीईआरटी की नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों ने वास्तविकता को तोड़ा-मरोड़ा। उन्होंने राज्य को पवित्रीकृत बनाया और विचाराधिपत्य की प्रक्रिया को मजबूत किया। इन पाठ्यपुस्तकों ने निरक्षरों को दोषी ठहराया और गांव तथा गांव वासियों का नकारात्मक चित्रण किया। इन किताबों ने जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता पर चर्चा को, राष्ट्र-निर्माण और प्रगति के विमर्श के घेरे में बांधे रखा। इन पाठ्यपुस्तकों में न तो शुद्धता/प्रदूषण' की विचारधारा पर प्रश्न उठाए गए और न ही 'अशुद्धता' और गरीबी की परस्पर साझी सीमाओं और घेरों को ही रेखांकित किया गया। इन पाठ्यपुस्तकों में नागरिकों/दलितों द्वारा अपमानजनक पहचान के विरोध और उसके खिलाफ उनके संघर्ष पर चर्चा की भी कोई जगह और गुंजाइश नहीं थी।

नागरिक शास्त्र की बदलती जमीन

मध्यप्रदेश की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के साथ काम करने वाली एक गैर-सरकारी संस्था, एकलव्य ने अपने समाज विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के जरिए 1980 और 1990 के दशक में युगांतकारी हस्तक्षेप किया। इस ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण पहल में अकादमिकों और स्कूली शिक्षकों की भागीदारी से बनाई गई नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में ज्ञानशास्त्रीय और शिक्षाशास्त्र दोनों तरह के बदलाव किए गए। इस पहलकदमी ने हालांकि 'नागरिक शास्त्र' शब्द का इस्तेमाल जारी रखा लेकिन उसने इसका क्षेत्र विस्तार कर नागरिकों के सामाजिक और आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को इन नई पाठ्यपुस्तकों में शामिल किया। इन पाठ्यपुस्तकों ने खोजबीन की प्रक्रिया और अनुभवों पर चिंतन के जरिए ज्ञान के निर्माण को प्रस्तुत किया। उन्होंने इस विषय की नई तरह से कल्पना करने, विकसित करने और पढ़ाने की दिशा में मील के नए पत्थर रचे। संस्थाओं और पात्रों को मूर्त रूप देने के लिए नवाचारी तरीकों जैसे कहानियों, घटनाक्रम तथा उदाहरणों का इस्तेमाल किया गया। पाठ के भीतर और अंत के प्रश्नों ने सूचनाओं को रटने की बजाय विद्यार्थियों को अपने और अन्य साथियों/लोगों के अनुभवों की रोशनी में संस्थाओं, उनके कार्यों और विचारों की व्याख्या करने और अर्थ समझने को बढ़ावा दिया (बत्रा, 2010)।

एकलव्य के इस ऐतिहासिक अनुभव ने सन 2003 में एससीईआरटी, दिल्ली के तत्वावधान में नागरिक शास्त्र की पुनर्कल्पना की एक अन्य कोशिश को भी प्रेरणा-शक्ति दी। महिलाओं के साथ काम करती एक नारीवादी संस्था, निरंतर की भागीदारी और नेतृत्व में हुई इस कोशिश ने ज्ञानानुशासनों के निर्माण की नारीवादी आलोचना से भी सबक सीखे। इन पाठ्यपुस्तकों में विशेषाधिकार और हाशिये की विभिन्न धुरियों के अतर्संबंधों पर ध्यान दिया गया। परिवार, गांव, शहर की विविधताओं; विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के दैनिक क्रियाकलाप को मूर्त रूप दिया गया।

इन पहलकदमियों और नागरिक शास्त्र के तात्कालिक सांचे के प्रति बेचैनी के संदर्भ में, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के दौरान बनाए गए समाज विज्ञान के शिक्षण पर राष्ट्रीय फोकस समूह के आधारपत्र ने नागरिक शास्त्र को हटाकर राजनीति विज्ञान विषय का स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल करने की सिफारिश की। उसने समसामयिक भारत को वंचित समूहों की दृष्टि और परिप्रेक्ष्य से समझने की बात की। साथ ही विषयवस्तु को 'व्यक्तियों और समुदायों के जीवंत अनुभवों' से जोड़ने और बहस तथा चर्चा को प्रोत्साहित करने पर बल दिया। 'सामाजिक और राजनैतिक जीवन' तथा राजनीति विज्ञान, विषयों की नई पाठ्यपुस्तकें इन ज्ञानशास्त्रीय और शिक्षाशास्त्रीय परिवर्तनों और अनुभवों से प्रेरित थीं।

कुछ प्रश्न, कुछ सबक

राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों पर समसामयिक बहस के संदर्भ में की गई इस लंबी ऐतिहासिक जांच से क्या विचार बिंदु, सरोकार, सबक और प्रश्न उभरते हैं :

क्या युवा विद्यार्थी खाली स्लेट हैं या उनमें तर्क कर सकने की क्षमता है और वयस्कों की तरह अपनी आवाज है? क्या केवल तर्क के जरिए सामाजिक संबंधों में उपस्थित विषम शक्ति संबंधों से पार पाया जा सकता है? समाज के शक्ति संबंधों पर प्रश्न उठाने वाली पाठ्यपुस्तकों में किन विमर्शों, अनुभवों, बिम्बों और तर्क की जगह हो और किनकी जगह नहीं हो? क्या राजनीति के बारे में चर्चा करने वाली किताबें राज्य की अमूर्त और आदर्श छवि ही रखें या रोजमर्रा के जीवन से राज्य और समाज के बारे में उपजते मिथकों, अनुभवों और तर्कों को किताब में जगह मिले? क्या राज्य और राजनीति के बारे में समझ का विकास इन संस्थाओं और प्रक्रियाओं पर चिंतन-मनन, तुलना, आलोचना और नयी संभावनाओं पर विचार किए बिना हो सकता है? क्या इन पर सामूहिक तरीके से विचार करना और विचार करने की क्षमताओं का विकास करना, नागरिक होने और नागरिकता के दावे की आवश्यक पूर्व तैयारी नहीं है? क्या हर विद्यार्थी से अपने अर्थ, तर्क और राय बनाने की अपेक्षा, शिक्षा, लोकतंत्र और नागरिकता की मूलभूत अपेक्षा नहीं है?

राजनीति विज्ञान की नई पाठ्यपुस्तकों ने राज्य और राजनीति को अमूर्तता की जगह लोकतांत्रिक जीवन और विमर्श में एक मूर्त रूप दिया। इन किताबों में तर्क और अनुभव दोनों को स्थान मिला। नागरिक शास्त्र से राजनीति विज्ञान की ओर यह परिवर्तन केवल ज्ञानशास्त्रीय और शिक्षाशास्त्रीय परिवर्तन ही नहीं था।

विद्यार्थियों को खाली स्लेट नहीं मानकर तर्क कर सकने वाले मनुष्य मानना जिनकी वयस्कों की तरह अपनी आवाज है, केवल शिक्षाशास्त्रीय परिवर्तन नहीं, एक राजनीतिक कदम भी था।

कई मायनों में यह किताबें अन्य राजनैतिक परिवर्तनों की ओर भी इशारा करती हैं।

एक तरफ वंचित समूहों के जनांदोलन से उपजी आलोचना, ज्ञान, अनुभवों ने इन पाठ्यपुस्तकों को नया कलेवर दिया। दूसरी ओर, पाठ्यपुस्तकों में इन समूहों, उनके सरोकारों, आवाजों और विमर्शों की जगह, इन सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक आंदोलनों की अपनी ताकत तथा समाज विज्ञान के बंद किलों को खोल

उसमें उनकी बढ़ती उपस्थिति का द्योतक है। तीसरी ओर, यह ज्ञान के समाज शास्त्र में हुई बहसों में 'पाठ्यचर्या में किसका ज्ञान उपस्थित है और किसका नहीं' जैसे सवालों और इन नए आंदोलनों और विमर्शों के महत्त्व को पाठ्यपुस्तक समिति द्वारा पहचाने जाने को भी दर्शाता है। समाज विज्ञान और उत्तर औपनिवेशिक नागरिक शास्त्र ने तार्किकता बनाम भावुकता के युग्म का इस्तेमाल प्रभुत्वशाली समूह की सत्ता स्थापित करने के लिए किया लेकिन दबे हुए समूहों ने राज्य और प्रभुत्वशाली समूहों की तार्किकता और उसकी परिभाषा को चुनौती दे, अपनी तार्किकता को रेखांकित किया। उन्होंने प्रभुत्वशाली तार्किकता की चुप्पियों और शक्ति संबंधों में उसके गुंथे होने को अनावृत किया। साथ ही, नारीवादी और दलित विमर्श ने अनुभवों और मनोभावों को भी ज्ञान निर्माण का आधार बनाया।

पाठ्यपुस्तकें किसी सार्वभौमिक सत्य और एकांगी अर्थ का वाहक नहीं होतीं। पाठ, संदर्भ और पठन की अंतर्क्रिया नए अर्थों को जन्म देती है। पाठ्यपुस्तकों के पाठ और बहस में अनेकानेक समूह शामिल होते हैं। वंचित समूहों ने पाठ्यपुस्तकों में अपनी पहचान और इतिहास की प्रस्तुति को लेकर बार-बार प्रश्न उठाए हैं। यह प्रश्न किसी भी विचार विमर्श की प्रक्रिया में समकक्ष भागीदारी और विषमता एवं अपमान के अनुभवों को व्यापक विमर्श का हिस्सा बनाने के प्रयास हैं। ऐसा कोई भी प्रयास लोकवृत्त की तत्कालीन सीमाओं पर प्रश्न उठाता है। वह उसमें उपलब्ध मंचों और साधनों तक पहुंच और उनके इस्तेमाल पर दावेदारी करने के साथ उनका विस्तार करता है और अलग लोकवृत्त का भी निर्माण करता है।

राज्य और उसके अधिकारी पाठ्यपुस्तक, ज्ञान-निर्माण और पाठ्यपुस्तक निर्माण पर नियंत्रण रखना चाहते हैं। राज्य की वैधता के संकट के दौर में पाठ्यपुस्तक समितियों की अपनी स्वायत्तता और निर्णय लेने के तौर-तरीकों के संस्थायीकरण की उपस्थिति राज्य के लिए नए डर पैदा करती है। राज्य के ये डर राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया, भिन्नता तथा राज्य व्यवस्था और मुद्दों पर वर्तमान सहमति को मिलती चुनौती से कैसे जूझें आदि प्रश्नों पर द्वैध वृत्ति से भी जुड़े हैं।

वर्तमान बहस पाठ्यपुस्तक निर्माण, राज्य लोकवृत्त, दलित आंदोलन, दलितों और शिक्षा तथा शिक्षा विमर्श और दलित विमर्श के बीच आपसी बातचीत से जुड़े अनेक प्रश्न उठाती है जिन्हें शिक्षा की राजनीति के अध्येताओं को समझने की जरूरत है। इस बहस में एक ऐसा प्रश्न बचा रह गया है जो एक साथ इन विभिन्न सिरों पर सोचने की मांग कर सकता है। ऐसा क्यों हुआ कि नागरिक शास्त्र की 2005 से पहले की और आज भी अनेक राज्यों में इस्तेमाल की जाती रही पाठ्यपुस्तकें दलित आलोचना और विमर्श का हिस्सा नहीं बनीं जबकि नई राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें जिन्होंने दलित विमर्श से प्रेरणा पाई, विवाद का केन्द्र बनीं; हमें आशा करनी चाहिए कि समतामूलक और सामाजिक न्याय प्रेरित आंदोलनों और विमर्शों, आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र तथा पाठ्यपुस्तक निर्माण में शामिल लोगों की आपसी बातचीत इस विवाद के जरिए और गहराएगी तथा नए सबक लेगी। ◆

संदर्भ सूची

- अलेण्डर, टिम (2006)। रूलिंग थ्रू एज्युकेशन : द पॉलिटिक्स ऑफ स्कूलिंग इन द कॉलोनियल पंजाब। नई दिल्ली : स्टरलिंग पब्लिशर्स (प्रा.) लिमिटेड।
- कविराज, सुदीप्ता (2000)। 'मॉडर्निटी एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया' देदलुस (Daedalus), विन्टर, 129 (1): 137-162।
- एनसीईआरटी (1970)। एज्युकेशन एण्ड नेशनल डवलपमेंटः रिपोर्ट ऑफ द एज्युकेशन कमीशन 1964-66। नई दिल्ली : एनसीईआरटी।

- जॉर्ज, अलेक्स एम. (2004)। 'चिल्ड्रेन्स परसेप्शन ऑफ सरकारः द फेलिसीज ऑफ सिविक्स टीचिंग', कन्टम्परेरी एज्युकेशन डायलॉग, 1 (2): 228-257।
- जैन, मनीष (1999)। 'इवोल्युशन ऑफ सिविक्स एण्ड द सिटीजन इन इण्डिया'। साउथ एशियन कॉन्फ्रेन्स ऑन एज्युकेशन, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 14-18 नवम्बर।
- जैन, मनीष (2004)। 'सिविक्स, सिटीजन एण्ड ह्ययूमन राइट्सः सिविक्स डिसकोर्स इन इण्डिया', कन्टम्परेरी एज्युकेशन डायलॉग, 1 (2): 165-198।
- जैन, मनीष (2008) : ''औपनिवेशिक भारत में नागरिक और नागरिकता'', शिक्षा विमर्श, 10 (5): 19-27।
- जैन, मनीष (2009)। सिविक्स करिक्युलम एण्ड द आइडिया ऑफ सिटीजन सिन्स लेट नाइन्टीन्थ सेंचुरी, शिक्षा विभाग, केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध उपाधि (पीएचडी)।
- जैन, मनीष (2011)। ''इन्ट्रोड्यूसिंग ए टैक्स्टबुकः पॉलिसीज एण्ड कन्टेसटेशन इन नाइन्टीन्थ सेंचुरी कॉलोनियल इण्डिया''। भारत की कम्पेरेटिव एज्युकेशन सोसाइटी की वार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय कॉन्फ्रेन्स में यह पर्चा प्रस्तुत किया गया। यूनीवर्सिटी ऑफ हैदराबाद। 16-18 नवम्बर।
- जैन, मनीष (2012)। 'टैक्स्टबुक एण्ड आइडेन्टिटी इन कॉलोनियल बॉम्बे एण्ड यूनाइटेड प्रॉविन्स', अप्रकाशित पर्चा।
- पावेल, एवरिल ए. (2002)। 'हिस्ट्री टैक्स्टबुक्स एण्ड द ट्रान्समिशन ऑफ प्री-कॉलोनियल पास्ट इन नॉर्थ-वेस्टर्न इण्डिया इन द 1860 एण्ड 1870, इन दाउद अली (संपादित) इनवोकिंग द पास्टः द यूज ऑफ हिस्ट्री इन साउथ एशिया। नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, पृष्ठः 91-133।
- पावेल, एवरिल ए. (2011)। 'ओल्ड बुक्स इन न्यू बाइन्डिंग्स : एथिक्स एण्ड एज्युकेशन इन कॉलोनियल इण्डिया', इन्दिरा सेनगुप्ता और दाउद अली में (संपादित)। नॉलेज प्रोडेक्शन, पैडागॉजी एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन कॉलोनियल इण्डिया। न्यू यॉर्कः पालग्रेव मेकमिलन, पृष्ठ 199-225।
- बत्रा, पूनम (संपादित) (2010)। सोश्यल साइंस लर्निंग इन स्कूल्स : पर्सपेक्टिव एण्ड चेन्जेज। नई दिल्ली। सेज पब्लिकेशन।
- बासु, अर्पणा (1974)। द ग्रोथ ऑफ एज्युकेशन एण्ड पॉलिटिकल डवलपमेंट इन इण्डिया 1898-1920। दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।
- बासु, सुभो (2010)। 'द डाइलेक्टिक्स ऑफ रेजिस्टेंसः कॉलोनियल जियोग्राफी, बेंगाली लिटरेचर एण्ड द रेसियल मैपिंग ऑफ इण्डियन आइडेंटिटी', मॉडर्न एशियन स्टडीज, 44(1) : 53-79।
- बेलेनोइट, हेडन जे. ए. (2007) मिशनरी एज्युकेशन एण्ड एम्पायर इन लेट कॉलोनियल इण्डिया, 1860-1920। लंदन : पिकरिंग एण्ड चेट्टो।
- भारत सरकार (1953)। रिपोर्ट ऑफ सैकण्डरी एज्युकेशन कमीशन, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार।
- सेठ, संजय (2007)। 'चेन्जिंग द सब्जेक्ट : वेस्टर्न नॉलेज एण्ड द क्विश्चन ऑफ डिफरेन्स', कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री, 49 (3) : 666-688।